Shodh Prabha: A Multidisciplinary Journal
ISSN: 3108-2726 (Online), 3108-2890 (Print), Volume-1, Issue-4, (Jul – Aug) 2025

निराला के काव्य में नारी-जीवन और सामाजिक यथार्थ

कृष्णा यादव
एम. ए. हिंदी विभाग, ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश

सारांश

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के काव्य में नारी केवल सौन्दर्य, प्रेम अथवा करुणा की परम्परागत प्रतीक-मूर्ति नहीं है; वह विधवा, गृहिणी, श्रमिक, किसान-बहू, पुत्री, प्रेमिका, सीता और महाशक्ति जैसे अनेक रूपों में उपस्थित होकर आधुनिक भारतीय समाज के वर्गीय, जातिगत, आर्थिक और लैंगिक अंतर्विरोधों को उद्घाटित करती है। प्रस्तुत आलेख का केंद्रीय प्रश्न यह है कि निराला की मानवीय और विद्रोही दृष्टि स्त्री के वास्तविक जीवनानुभव को किस सीमा तक अभिव्यक्ति देती है और कहाँ वह आदर्शीकरण, मौन, देह-केंद्रित सौन्दर्यबोध तथा मिथकीय प्रतीकीकरण की सीमाओं में घिर जाती है। 'विधवा', 'बहू', 'तोड़ती पत्थर', 'वे किसान की नई बहू की आँखें', 'सरोज-स्मृति', 'जूही की कली', 'पंचवटी-प्रसंग' और 'राम की शक्ति-पूजा' के पाठाधारित विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि निराला ने हिंदी कविता में नारी को निजी करुणा से सामाजिक संरचना, घरेलू परिधि से सार्वजनिक श्रम और निष्क्रिय प्रतीक से नैतिक-आध्यात्मिक शक्ति तक विस्तृत किया। फिर भी उनकी नारी-दृष्टि सर्वत्र समान रूप से मुक्तिकामी नहीं है। उसका महत्त्व इसी द्वंद्व में है कि वह अपने युग की रूढ़ियों का प्रतिरोध करते हुए स्वयं उस युग के कुछ संस्कारों को भी वहन करती है।

बीज शब्द- निराला, नारी-जीवन, सामाजिक यथार्थ, स्त्री-स्वाधीनता, श्रमजीवी स्त्री, पितृसत्ता, शक्ति-चेतना।

मुख्य आलेख

निराला के काव्य में नारी-जीवन का अध्ययन करते समय केवल यह देखना पर्याप्त नहीं कि उन्होंने कितनी स्त्रियों का चित्रण किया अथवा उनके प्रति कितनी करुणा व्यक्त की। अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उनके यहाँ स्त्री किस सामाजिक स्थान पर दिखाई देती है, उसके दुःख का कारण व्यक्तिगत दुर्भाग्य है या कोई व्यापक व्यवस्था, और उसकी उपस्थिति कविता की संरचना में सक्रिय है या पुरुष-दृष्टि से निर्मित एक भावचित्र मात्र। निराला की स्त्री-संबंधी कविताएँ इस प्रश्न का एकरेखीय उत्तर नहीं देतीं। कहीं स्त्री पूजा, पवित्रता और त्याग की प्रतिमा है; कहीं वह पत्थर तोड़ते हुए वर्ग-विषमता का सबसे तीखा दृश्य बन जाती है; कहीं उसकी आँखों में बंद पंखों वाले पक्षियों की असहायता है; कहीं वह कवि की पुत्री होकर आर्थिक अभाव, जाति और विवाह-संस्था की क्रूरता को उजागर करती है; और कहीं महाशक्ति के रूप में समूचे पुरुषार्थ की शर्त बनती है।

निराला की विशेषता यह है कि वे नारी-प्रश्न को केवल घरेलू नैतिकता का प्रश्न नहीं रहने देते। रामविलास शर्मा ने निराला की स्त्री-दृष्टि को श्रम-विभाजन, संपत्ति-संबंध, सामंती व्यवस्था और राष्ट्रीय स्वाधीनता के व्यापक संदर्भ में समझते हुए रेखांकित किया है कि 'स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार और सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भागीदारी दिए बिना राष्ट्र का नया विकास संभव नहीं है।'[1] यह आलोचनात्मक संकेत निराला के काव्य-पाठ के लिए उपयोगी है, क्योंकि उनकी अनेक कविताओं में स्त्री की स्थिति सीधे-सीधे आर्थिक निर्भरता, जातिगत अनुशासन, घरेलू सीमा और श्रम के अवमूल्यन से जुड़ती है। पर कविता घोषणापत्र नहीं होती; उसमें प्रगतिशील चेतना के साथ संस्कार और निजी भाव-स्मृतियाँ भी सक्रिय रहती हैं। अतः निराला की नारी-दृष्टि का सत्य उसके भीतरी संघर्ष में है।

यही संघर्ष सामाजिक यथार्थ की उनकी समझ को भी जटिल बनाता है। यथार्थ उनके यहाँ घटनाओं का सपाट विवरण नहीं, बल्कि मनुष्य की गरिमा और उसे कुचलने वाली परिस्थितियों के बीच का तनाव है। स्त्री के संदर्भ में यह तनाव अधिक तीखा हो जाता है, क्योंकि उसके जीवन पर वर्ग, जाति और लिंग—तीनों का दबाव एक साथ काम करता है। निराला कभी उस दबाव को प्रत्यक्ष दृश्य में पकड़ते हैं, कभी करुण प्रतीक में, कभी आत्मकथात्मक स्मृति में और कभी मिथकीय पुनर्रचना में। इसीलिए उनके काव्य में नारी-जीवन की यात्रा 'विधवा' की स्थिर करुण प्रतिमा से 'तोड़ती पत्थर' की गतिशील श्रम-मुद्रा और वहाँ से 'महाशक्ति' की विराट उपस्थिति तक जाती हुई दिखाई देती है; पर इस यात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर मुक्ति और मर्यादा, स्वायत्तता और आदर्शीकरण, वाणी और मौन का द्वंद्व बना रहता है।

'विधवा' निराला की सामाजिक संवेदना का प्रारम्भिक और अत्यंत चर्चित उदाहरण है। कविता का आरम्भ स्त्री को अनेक पवित्र, शांत और विखंडित बिंबों के बीच स्थापित करता है—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन।"[2]

इन उपमानों में करुणा के साथ सम्मान भी है। विधवा को अपवित्र, अमंगलकारी या सामाजिक बोझ मानने वाली दृष्टि के विरुद्ध कवि उसे 'पूजा' और 'दीप-शिखा' के आलोक में रखता है। पर कविता की असली सामाजिक तीक्ष्णता तब प्रकट होती है जब वह इस स्त्री को "दलित भारत की ही विधवा" कहती है। यहाँ वैयक्तिक शोक राष्ट्रीय रूपक में बदल जाता है। विधवा का टूटा जीवन किसी एक परिवार की दुर्घटना नहीं, उस समाज की पहचान है जिसने स्त्री के अस्तित्व को पति की उपस्थिति पर निर्भर कर दिया है। पति की मृत्यु के साथ उसके रंग, इच्छा, अधिकार और सामाजिक व्यक्तित्व भी मानो समाप्त कर दिए जाते हैं। निराला इस अमानवीयता को करुण सौन्दर्य में रूपांतरित करते हैं।

फिर भी इस कविता की सीमा उसी करुण सौन्दर्य में छिपी है। विधवा बोलती नहीं; उसका व्यक्तित्व प्रायः आँसू, मौन, पवित्रता और दीनता से निर्मित होता है। कवि उसके दुःख के पक्ष में खड़ा है, पर उसकी संभावित आकांक्षाओं—पुनर्विवाह, आर्थिक स्वावलंबन, कामना, प्रतिरोध या सार्वजनिक जीवन—को प्रत्यक्ष स्वर नहीं मिलता। इस अर्थ में कविता सामाजिक क्रूरता को पहचानती है, किंतु पीड़ित स्त्री को अभी भी एक पूजनीय प्रतिमा में स्थिर कर देती है। पूजा सम्मान दे सकती है, पर वह मनुष्य को दूरी पर भी रखती है। निराला की मानवीय उपलब्धि यह है कि वे विधवा को सामाजिक अपमान से उठाकर राष्ट्रीय पीड़ा के केंद्र में लाते हैं; उनकी युगगत सीमा यह है कि मुक्ति की कल्पना करुणा से आगे बढ़कर स्त्री की सक्रिय आत्मनिर्णय-क्षमता तक पूरी तरह नहीं पहुँचती।

'बहू' में यह अंतर्विरोध और अधिक स्पष्ट है। कविता घरेलू स्त्री की आंतरिक शांति, प्रेम और समर्पण को अत्यंत आत्मीयता से चित्रित करती है, पर उसकी आदर्श छवि के केंद्र में मौन है—

"वह है सुहाग की रानी,
भावमग्न कवि को वह एक मुखरता-वर्जित वाणी।
सरलता ही से उसकी होती मनोरञ्जना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यञ्जना।"[3]

'मुखरता-वर्जित वाणी' एक प्रभावशाली काव्य-विरोधाभास है। निराला बहू के भीतर भावों की समृद्धि देखते हैं; उसका मौन रिक्त नहीं, अर्थपूर्ण है। वह बाहरी चंचलता से मुक्त, प्रेम में निष्ठावान और घर की आत्मीयता का केंद्र है। इस चित्रण में घरेलू स्त्री की उस अदृश्य भाव-संपदा को प्रतिष्ठा मिलती है जिसे सार्वजनिक इतिहास प्रायः दर्ज नहीं करता। किंतु 'नीरवता' को पूर्ण अभिव्यक्ति मान लेना पितृसत्तात्मक गृह-आदर्श से भी जुड़ जाता है, जहाँ अच्छी स्त्री वही है जो बिना माँगे, बिना प्रश्न किए और बिना अपना स्वतंत्र कथन रखे संबंधों को सँभालती रहे। यहाँ स्त्री का मन स्वीकार किया गया है, उसकी आवाज नहीं।

'विधवा' और 'बहू' को साथ पढ़ने पर निराला के आरम्भिक स्त्री-बोध की दो दिशाएँ सामने आती हैं। एक ओर वे सामाजिक रूप से उपेक्षित स्त्री को नैतिक ऊँचाई देते हैं; दूसरी ओर स्त्री की श्रेष्ठता का प्रमाण त्याग, शांति, सहनशीलता और मौन में खोजते हैं। यह उस संक्रमणशील समाज की मानसिकता है जिसमें स्त्री के प्रति सहानुभूति बढ़ रही थी, पर उसकी स्वतंत्र इच्छा को स्वीकार करना कठिन था। निराला इस सीमा को कई स्थानों पर तोड़ते हैं, यहाँ पूरी तरह नहीं। यही कारण है कि रामविलास शर्मा द्वारा रेखांकित 'दोहरी परतंत्रता'—बाहर पराधीन पुरुष और घर के भीतर उसी पुरुष की दासी स्त्री—का प्रश्न यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से उपस्थित रहता है।[4] घरेलू आदर्श तभी मानवीय हो सकता है जब वह स्त्री की चुनी हुई आत्मीयता हो, थोपी हुई नियति नहीं।

'तोड़ती पत्थर' में हिंदी कविता पहली बार जिस तीव्रता से श्रमजीवी स्त्री के शरीर, श्रम और सामाजिक परिवेश को एक साथ देखती है, वह निराला की काव्य-दृष्टि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का संकेत है। कविता किसी अमूर्त 'अभागी' स्त्री की नहीं, इलाहाबाद की सड़क पर दिखाई देने वाली एक श्रमिक की है—

"वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन।"[5]

स्थान, धूप, छाया का अभाव और श्रम की पुनरावृत्ति कविता को प्रत्यक्षता देते हैं। किंतु यह दृश्य केवल दैन्य का नहीं है। स्त्री बैठी हुई है, पर निष्क्रिय नहीं; उसके हाथ में 'गुरु हथौड़ा' है और उसकी गति बार-बार प्रहार करने की है। वह पत्थर तोड़ती है, जबकि उसके सामने अट्टालिकाएँ और प्राकार खड़े हैं। इस दृश्य-संयोजन में वर्ग-संबंध स्वयं बोल उठता है: एक ओर श्रम करने वाला शरीर, दूसरी ओर उसी श्रम से निर्मित वैभव; एक ओर छाया से वंचित स्त्री, दूसरी ओर भवनों की संरक्षित दुनिया। कविता किसी सिद्धांत का नाम नहीं लेती, पर व्यवस्था की असमानता को दृश्य-विन्यास में उपस्थित कर देती है।

इस स्त्री का 'श्याम तन' और 'भर बँधा यौवन' निराला के सौन्दर्यबोध की निरंतरता भी है और उसका रूपांतरण भी। शरीर अब पुष्प, लता या सुहाग की सजावट मात्र नहीं; वह श्रम की शक्ति, थकान और सामाजिक असुरक्षा से संयुक्त है। कवि की दृष्टि स्त्री के यौवन को देखती अवश्य है, इसलिए आधुनिक स्त्रीवादी पाठ यहाँ पुरुष-दृष्टि का अवशेष पहचान सकता है। पर यह दृष्टि उसे उपभोग की वस्तु नहीं बनाती। कविता का केंद्रीय प्रभाव उसके तन की कामनीयता नहीं, उसकी अविचल श्रम-मुद्रा और चोट सहकर भी न रोने वाली गरिमा से बनता है। वह दया की याचक नहीं है। उसकी एक दृष्टि कवि को भीतर तक विचलित करती है, मानो निरीक्षक और निरीक्षित का संबंध उलट गया हो। देखने आया कवि स्वयं देखा जाने लगता है।

'वे किसान की नई बहू की आँखें' श्रमजीवी स्त्री के दूसरे, अधिक भीतरी और ग्रामीण रूप को सामने लाती है। यहाँ खुली सड़क और हथौड़े की ठोस ध्वनि नहीं, संकोच, अज्ञान, भय और बंद पंखों का बिंब है—

"नहीं जानती जो अपने को खिलती हुई
विश्व-विभव से मिली हुई,
नहीं जानती समझी अपने को,
नहीं कर सकी सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरितिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें;"[6]

किसान की नई बहू प्रकृति के बीच है, पर स्वतंत्र नहीं। 'हरितिमा' जीवन और संभावना का संकेत देती है, जबकि 'बन्द पाँखें' उस संभावना के अवरुद्ध होने का। कविता बार-बार उसके अपने को न जानने पर बल देती है। यह अज्ञान जैविक या व्यक्तिगत दुर्बलता नहीं, सामाजिक स्थिति का परिणाम है। विवाह के बाद नई जगह आई ग्रामीण स्त्री परिवार, परम्परा, गरीबी और दुनिया के भय से घिरी है। उसकी आँखें प्रियतम के पास हँसी का स्रोत हैं, पर बाहरी संसार के 'कर' से पकड़े जाने को भीरु हैं। इस प्रकार निजी प्रेम की संभावना और सामाजिक असुरक्षा एक ही छवि में समाहित हो जाती है।

'तोड़ती पत्थर' और 'वे किसान की नई बहू की आँखें' के बीच का अंतर निराला के यथार्थ-बोध की व्यापकता दिखाता है। पहली स्त्री सार्वजनिक श्रम में दिखाई देती है; दूसरी घरेलू-ग्रामीण परिधि में। पहली की देह प्रहार करती है; दूसरी की आँखों में पंख बंद हैं। पहली शहर की अट्टालिकाओं के सामने वर्ग-विरोध का दृश्य है; दूसरी किसान-जीवन के भीतर लैंगिक असुरक्षा का सूक्ष्म मनोचित्र। दोनों को जोड़ता है सामाजिक संरचना द्वारा सीमित जीवन और फिर भी बची हुई मनुष्यगत गरिमा। निराला यहाँ स्त्री को राष्ट्र, देवी या शाश्वत प्रेम का प्रतीक बनाने के बजाय उसकी परिस्थितियों में देखते हैं। यही उनकी सामाजिक यथार्थवादी उपलब्धि का सबसे विश्वसनीय आधार है।

'सरोज-स्मृति' में स्त्री किसी सामाजिक प्रकार के रूप में नहीं, नाम, जीवन-क्रम, पारिवारिक स्मृतियों और मृत्यु की असह्य निकटता के साथ उपस्थित होती है। यह निकटता निराला की नारी-दृष्टि को एक नई मानवीय जटिलता देती है। सरोज केवल पुत्री नहीं; वह कवि की आर्थिक असफलता, पारिवारिक विखंडन, मृत पत्नी की स्मृति, जातिगत रूढ़ि और विवाह-संस्था से जुड़े संघर्षों का केंद्र बन जाती है। कविता में पिता का शोक आत्मदया नहीं रहता, क्योंकि वह स्वयं को कठघरे में खड़ा करता है—

"धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित-काय।
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।"[7]

इन पंक्तियों में 'निरर्थक पिता' की स्वीकारोक्ति निजी अपराध-बोध और सामाजिक अर्थव्यवस्था के बीच पुल बनाती है। कवि जानता है कि स्नेह पर्याप्त नहीं; पुत्री के जीवन के लिए आर्थिक साधन भी चाहिए। वह अर्थोपार्जन के प्रचलित रास्तों को 'अनर्थ आर्थिक पथ' कहकर अस्वीकार करता है, किंतु उसी अस्वीकार की कीमत परिवार, विशेषतः पुत्री, को चुकानी पड़ती है। यहाँ निराला अपनी नैतिकता का महिमामंडन नहीं करते। वे मानते हैं कि ऊँचे आदर्शों के बावजूद वे सरोज के हित में

आवश्यक भौतिक सुरक्षा नहीं जुटा सके। यह आत्मालोचना नारी-जीवन के यथार्थ को भावुक पितृत्व से बचाती है। 'सरोज-स्मृति' का सामाजिक विस्तार विवाह-प्रसंग में और स्पष्ट होता है। निराला जातिगत प्रतिष्ठा और दहेज-लोलुपता पर तीखा व्यंग्य करते हैं—

"सोचा मन में हत बार बार—
'ये कान्यकुब्ज-कुल कुलांगार;
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद।"[8]

यहाँ भाषा करुण गीत से अचानक सामाजिक व्यंग्य में बदल जाती है। 'कुल' की शुद्धता का दावा करने वाले लोग विवाह को आर्थिक सौदे में बदल देते हैं। पिता की चिंता केवल योग्य वर खोजने की नहीं, उस जातिगत बाजार से पुत्री को बचाने की है जहाँ कन्या का मान दहेज और कुल-प्रतिष्ठा से मापा जाता है। निराला विवाह में मिथ्या व्यय, दहेज और कर्मकांड का विरोध करते हैं; स्वयं मंत्र पढ़ने और उपलब्ध साधनों में आत्मीय आयोजन करने का निर्णय लेते हैं। सरोज का जीवन सामाजिक सुधार के व्यावहारिक जोखिम का क्षेत्र बन जाता है।

फिर भी 'सरोज-स्मृति' मूलतः पिता की स्मृति है। सरोज का व्यक्तित्व अत्यंत सजीव होकर भी कवि की दृष्टि और उसके संबंधों के माध्यम से निर्मित होता है। उसकी बालिका, तरुणी और नवविवाहिता छवियाँ हैं; उसकी स्वतंत्र इच्छाओं और विचारों का विस्तार सीमित है। यह सीमा कविता की भाव-सत्यता को नष्ट नहीं करती, पर उसकी संरचना को समझने के लिए आवश्यक है। शोकग्रस्त पिता जिस बेटी को स्मरण करता है, वह अनिवार्यतः उसकी स्मृति में पुनर्निर्मित बेटी है। इसलिए कविता स्त्री की आत्मकथा नहीं, पितृत्व की आत्मपरीक्षा है। उसकी बड़ी उपलब्धि यह है कि यह पितृत्व अधिकार के बजाय असमर्थता, सेवा, घरेलू जिम्मेदारी और आत्मग्लानि की भाषा बोलता है। माँ के अभाव में पिता द्वारा पुत्री की देखभाल और विवाह की तैयारी पुरुष भूमिका की परम्परागत सीमा को भी बदलती है।

'जूही की कली' में नारी-प्रतिनिधित्व का एक बिल्कुल भिन्न रूप मिलता है। यहाँ स्त्री प्रकृति में रूपांतरित है और प्रकृति स्त्री-देह में। कविता का आरम्भ निद्रा, सुहाग, स्वप्न और कोमल तन के बिंबों से होता है—

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जूही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल—पत्राङ्क में;"[9]

इस कविता ने हिंदी काव्य में कामना और देह की अनुभूति को एक नई लय, ऐंद्रिकता और मुक्त भाषा दी। स्त्री-देह यहाँ पाप या नैतिक भय का विषय नहीं, प्रकृति की जीवंत सृजन-शक्ति का रूप है। यह उस सामाजिक संस्कार के विरुद्ध जाता है जो स्त्री की कामना को निषिद्ध और पुरुष की कामना को स्वाभाविक मानता रहा है। फूल, पवन, स्पर्श और जागरण का पूरा दृश्य प्रेमानुभूति को शरीर-विमुख अध्यात्म में विलीन नहीं होने देता। इस दृष्टि से कविता स्त्री-देह को सौन्दर्य और आनंद की वैधता देती है।

'सरोज-स्मृति' और 'जूही की कली' को साथ रखने पर निराला की स्त्री-दृष्टि का गहरा अंतर दिखाई देता है। सरोज एक विशिष्ट मनुष्य है, जिसकी मृत्यु कवि के नैतिक और सामाजिक आत्मबोध को बदल देती है; जूही की कली एक प्रतीकात्मक तरुणी है, जिसकी देह से प्रेम और प्रकृति का सौन्दर्य निर्मित होता है। पहली कविता स्त्री के जीवन को आर्थिक, जातिगत

और पारिवारिक परिस्थितियों से जोड़ती है; दूसरी देह को ऐंद्रिक स्वाधीनता देती हुई भी उसे रूपक में बदल देती है। निराला की उपलब्धि दोनों को हिंदी कविता के योग्य विषय बनाना है। उनकी सीमा यह है कि स्त्री की स्वतंत्र आत्मवाणी इन दोनों में भी आंशिक है—एक पिता की स्मृति में बोलती है, दूसरी प्रकृति के संकेतों में।

यहीं निराला के काव्य का महत्त्वपूर्ण द्वंद्व सामने आता है। वे स्त्री को अपमानित करने वाली रूढ़ियों से लड़ते हैं, उसके श्रम और दुःख को गरिमा देते हैं, उसकी देह को नैतिक निषेध से मुक्त करते हैं; किंतु कई बार उसकी स्वतंत्र इच्छा को मौन, सौन्दर्य या संबंध में विलीन कर देते हैं। यह अंतर्विरोध किसी एक कवि की निजी दुर्बलता भर नहीं, आधुनिकता की उस अधूरी प्रक्रिया का संकेत है जिसमें स्त्री को नए विषय के रूप में तो स्वीकार किया गया, पर उसे पूर्ण भाषिक और सामाजिक कर्ता मानने की चेतना क्रमशः विकसित हुई। निराला इस प्रक्रिया के अग्रगामी कवि हैं, अंतिम बिंदु नहीं।

निराला के लिए मिथक अतीत की जड़ पुनरावृत्ति नहीं, आधुनिक जीवन के प्रश्नों से संवाद का माध्यम है। 'पंचवटी-प्रसंग' में राम, सीता और लक्ष्मण परिचित चरित्र होते हुए भी मनुष्यगत संवेदना, प्रेम और विचार के नए आयाम ग्रहण करते हैं। सीता स्मरण करती है, प्रश्न करती है और संवाद में भाग लेती है; वह केवल परीक्षा देने वाली अथवा अपहरण की प्रतीक्षा करती निष्क्रिय पात्र नहीं। इसी प्रसंग में राम घरेलू सीमा की संकीर्णता पर कहते हैं—

"छोटे-से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव,"[10]

इन दो पंक्तियों का आशय केवल भौतिक घर से बाहर जाना नहीं, प्रेम को स्वामित्व और संकीर्ण परिवारवाद से मुक्त करना है। यह विचार स्त्री को घर में बाँधने वाली व्यवस्था की आलोचना से जुड़ता है। संवाद पत्नी के साथ है; प्रेम का अर्थ संरक्षण ही नहीं, विचार-साझेदारी भी है। 'बहू' की 'मुखरता-वर्जित वाणी' की तुलना में 'पंचवटी-प्रसंग' की सीता अधिक संवादशील उपस्थिति रखती है। मिथकीय उच्चता सामाजिक यथार्थ को कभी-कभी अमूर्त बना देती है। 'घर की सीमा' का दार्शनिक निषेध और वास्तविक स्त्री की आर्थिक निर्भरता, घरेलू हिंसा, संपत्ति-अधिकार या श्रम-विभाजन एक ही बात नहीं हैं। मिथक व्यापक नैतिक कल्पना देता है, पर ठोस संस्थागत प्रश्नों को प्रतीक में विलीन भी कर सकता है। इसलिए 'पंचवटी-प्रसंग' को 'तोड़ती पत्थर' और किसान की नई बहू के साथ पढ़ना आवश्यक है। एक कविता प्रेम को निःसीम भूमि पर फैलाती है; दूसरी बताती है कि वास्तविक स्त्री को बैठने के लिए छायादार पेड़ तक उपलब्ध नहीं; तीसरी में उसके पंख बंद हैं। निराला का संपूर्ण स्त्री-बोध इन भिन्न धरातलों की संयुक्त उपस्थिति से बनता है।

'राम की शक्ति-पूजा' में नारी का रूप व्यक्तिगत स्त्री से विराट शक्ति में बदल जाता है। विजय पुरुष-वीरता से स्वतः प्राप्त नहीं होती; राम को अपनी सीमा पहचाननी पड़ती है और शक्ति की आराधना करनी पड़ती है। जाम्बवान का निर्देश है—

"शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जबतक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!"[11]

शक्ति परम्परा से मिली तैयार वस्तु नहीं, संकट के भीतर नए ढंग से अर्जित चेतना है। राम की वीरता तब तक अधूरी है जब तक वह अपने भीतर उस शक्ति को धारण नहीं करते जिसे स्त्रीलिंग रूप में कल्पित किया गया है। यहाँ नारी-तत्त्व सहायक अलंकार नहीं, विजय की अनिवार्य शर्त है। पुरुषोत्तम भी शक्ति के सामने साधक है। यह संरचना पितृसत्तात्मक सर्वशक्तिमान पुरुष की धारणा को तोड़ती है और स्वीकार करती है कि सृजन, संघर्ष तथा नैतिक विजय के लिए स्त्री-शक्ति का आदर आवश्यक है। कविता का अंतिम दृश्य इस अर्थ को और जटिल करता है—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।"[12]

एक ओर महाशक्ति स्वयं विजय का आश्वासन देती है; उसकी स्वीकृति के बिना राम की सफलता संभव नहीं। दूसरी ओर अंततः वह राम के वदन में 'लीन' हो जाती है। इसे अद्वैतात्मक एकता माना जा सकता है, शक्ति और पुरुष का विभाजन समाप्त होकर नया व्यक्तित्व बनता है। किंतु स्त्रीवादी दृष्टि से यह प्रश्न भी उठता है कि स्वतंत्र स्त्री-शक्ति की अंतिम परिणति पुरुष-नायक में विलय क्यों है। राष्ट्रवादी और सांस्कृतिक कल्पनाओं में स्त्री को देवी, माता या शक्ति बनाकर ऊँचा उठाया जाता है, पर वास्तविक निर्णय-सत्ता प्रायः पुरुष के पास रहती है। निराला की कविता इस विरोधाभास को पूरी तरह हल नहीं करती; वह उसे प्रभावशाली प्रतीक में संकेंद्रित करती है।

यहाँ 'विधवा' से 'महाशक्ति' तक की दूरी अर्थपूर्ण है। विधवा पवित्र है पर दीन; बहू भावसमृद्ध है पर मुखरता-वर्जित; श्रमिक स्त्री कठोर और अविचल है पर सामाजिक संसाधनों से वंचित; किसान की बहू की आँखों में पंख हैं पर बंद; सरोज आत्मीय और विशिष्ट है पर स्मृति में संरक्षित; जूही की कली कामना का सौन्दर्य है पर सक्रियता में असमान; सीता संवाद का हिस्सा है; महाशक्ति विजय का स्रोत है, किंतु अंत में पुरुषोत्तम में लीन। ये रूप किसी सीधी प्रगति-रेखा के चरण नहीं, बल्कि निराला के भीतर सहअस्तित्व रखने वाली दृष्टियों का समूह हैं। इसी बहुलता से उनका काव्य आधुनिक बनता है और इसी से उसकी आलोचना आवश्यक होती है।

निराला की वर्तमान प्रासंगिकता इस बात में नहीं कि उनके प्रत्येक स्त्री-चित्र को आज का आदर्श मान लिया जाए। उनकी प्रासंगिकता उस काव्यात्मक साहस में है जिससे उन्होंने विधवा की सामाजिक अवमानना, घरेलू मौन, महिला श्रमिक की वर्गीय दुर्दशा, ग्रामीण बहू की असुरक्षा, दहेज और जाति की क्रूरता, स्त्री-देह की वैध कामना तथा शक्ति के बिना पुरुषार्थ की अपूर्णता को कविता के केंद्र में रखा। आज जब स्त्री को कभी उपभोक्ता-संस्कृति में देह, कभी राजनीति में प्रतीक, कभी परिवार में त्याग-मूर्ति और कभी राष्ट्र में देवी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, निराला का काव्य चेतावनी देता है कि प्रतीकात्मक सम्मान पर्याप्त नहीं। गरिमा का वास्तविक अर्थ आर्थिक स्वावलंबन, श्रम की मान्यता, शिक्षा, वाणी, सुरक्षा और निर्णय-अधिकार से बनता है।

इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का यह विश्लेषण विशेष रूप से सार्थक है कि निराला के लिए नारी की समानता राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रश्न से अलग नहीं थी और आर्थिक परनिर्भरता घरेलू दासता का प्रमुख आधार थी।[13] निराला की कविताएँ इस विचार को अलग-अलग कलात्मक रूपों में मूर्त करती हैं। 'तोड़ती पत्थर' आर्थिक संरचना का दृश्य है; 'सरोज-स्मृति' अर्थाभाव की आत्मपीड़ा; 'वे किसान की नई बहू की आँखें' ग्रामीण परनिर्भरता का मनोविज्ञान; 'बहू' घरेलू मौन का आदर्शीकरण; और 'राम की शक्ति-पूजा' शक्ति के बिना विजय की असंभवता। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में नारी-जीवन उनके काव्य का सीमित विषय नहीं, आधुनिक भारतीय मनुष्य की स्वतंत्रता की कसौटी बन जाता है।

निष्कर्ष

निराला के काव्य में नारी-जीवन का स्वरूप बहुरंगी और अंतर्विरोधपूर्ण है। उन्होंने स्त्री को परम्परागत कविता की सीमित सौन्दर्य-वस्तु से बाहर निकालकर सामाजिक पीड़ा, श्रम, परिवार, आर्थिक अभाव, जातिगत रूढ़ि, कामना, संवाद और शक्ति के विविध क्षेत्रों में स्थापित किया। 'विधवा' में सामाजिक बहिष्कार के विरुद्ध करुण गरिमा है, किंतु पीड़िता की सक्रिय आवाज सीमित है। 'बहू' घरेलू स्त्री के भावलोक का सम्मान करती है, पर मौन को आदर्श बनाती है। 'तोड़ती पत्थर' और 'वे किसान की नई बहू की आँखें' वर्ग और लिंग के संयुक्त दबाव को ऐसे दृश्य और मनोबिंब में रूपांतरित करती हैं जिनसे हिंदी कविता का सामाजिक क्षितिज विस्तृत हुआ। 'सरोज-स्मृति' निजी शोक को आर्थिक, जातिगत और वैवाहिक यथार्थ से जोड़ते हुए

पितृत्व को आत्मपरीक्षा में बदल देती है। 'जूही की कली' स्त्री-देह और कामना को काव्यात्मक वैधता देती है, साथ ही सक्रिय पुरुष और प्रतिक्रियाशील स्त्री के सांस्कृतिक ढाँचे से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाती। 'पंचवटी-प्रसंग' और 'राम की शक्ति-पूजा' मिथक के भीतर स्त्री को संवाद और विराट शक्ति प्रदान करते हैं, किंतु प्रतीकीकरण तथा पुरुष-नायक में शक्ति के विलय का प्रश्न भी छोड़ते हैं। उनकी कविता अपने युग की पितृसत्तात्मक संरचनाओं से टकराती है, पर कई बार उन्हीं से प्राप्त पवित्रता, त्याग, मौन और देह-सौन्दर्य के प्रतिमानों का उपयोग भी करती है। यही द्वंद्व उसे ऐतिहासिक रूप से विश्वसनीय और आलोचनात्मक रूप से जीवंत बनाता है। निराला की स्थायी उपलब्धि यह है कि उन्होंने स्त्री के दुःख को निजी नियति नहीं रहने दिया; उसे समाज की नैतिकता, अर्थव्यवस्था और स्वतंत्रता की परीक्षा बना दिया। आज उनके काव्य को आगे बढ़ाने का अर्थ स्त्री को देवी या करुण प्रतिमा बनाने से अधिक, उसे बोलने, चुनने, श्रम का मूल्य पाने और अपने जीवन का निर्णय करने वाली पूर्ण मनुष्य के रूप में स्वीकार करना है।

संदर्भ सूची

1. शर्मा, रामविलास, निराला की साहित्य साधना, खंड 2, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, 1981, पृ. 34–35
2. निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, परिमल, लखनऊ, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, प्रथमावृत्ति, संवत् 1986, पृ. 100
3. वही, पृ. 134
4. शर्मा, रामविलास, निराला की साहित्य साधना, खंड 2, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, 1981, पृ. 35–36
5. निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, अनामिका, इलाहाबाद, भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रथम संस्करण, संवत् 1995, पृ. 79
6. वही, पृ. 146
7. वही, पृ. 118
8. वही, पृ. 129
9. निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, परिमल, लखनऊ, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, प्रथमावृत्ति, संवत् 1986, पृ. 165
10. वही, पृ. 216
11. निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, अनामिका, इलाहाबाद, भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रथम संस्करण, संवत् 1995, पृ. 159
12. वही, पृ. 165
13. शर्मा, रामविलास, निराला की साहित्य साधना, खंड 2, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, 1981, पृ. 35–36